नवोन्मेष की चुनौती के सामने हिंदी समाज और साहित्य

प्रफुल्ल कोलख्यान

‘भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।’

- प्रो. श्यामाचरण दुबे

व्यक्ति, समाज और साहित्य के बहुस्तरीय संबंधों में आत्मपरीक्षण की अनाहत प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है। उनिभू (उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण) प्रक्रिया के प्रारंभ होने के बाद ये संबंध अपनी पुनर्व्याख्याओं के गंभीर दौर में हैं। एक व्यक्ति के रूप में हम चाहें, न चाहें समाज के बाहर नहीं रह सकते। क्योंकि, ‘पानी के बीच में रहने के बावजूद मीन प्यासी भले रहे, सदा जल में रहने के बावजूद उस में बास चाहे सदा बनी रहे,

लेकिन पानी से बाहर मीन का प्राण ही खतरे में पड़ जाता है। जाल पड़ने से जल के बहकर बाहर निकल जाने की चाहे जितनी शिकायत हो, मीन को रहना पानी में ही पड़ता है। मछली के लिए पानी में रहकर ही लड़ना संभव होता है। जिन मगरमच्छों से मछली को प्राण का सदा भय बना रहता है उन मगरमच्छों के भी जीवन का आधार पानी ही देता है। इस कारण पानी मछली का वैरी नहीं हो जाता है। मगरमच्छ तो जब चाहे कुछ क्षण के लिए पानी से बाहर निकलकर विहार कर सकता है, लेकिन मछली ऐसा नहीं कर सकती है। समाज और व्यक्ति का संबंध बहुत कुछ पानी, मगरमच्छ और मछली के संबंध जैसा है।'[1] हम चाहें, न चाहें, साहित्य के बिना भी हम नहीं रह सकते। क्योंकि साहित्य ही हमें सामाजिक बनाता है। यह जरूर है कि समाज और साहित्य के साथ हमारा बहुस्तरीय संबंध किसी सुपरिभाषित या अचल संदर्भ से ही तय नहीं हुआ करता है। इसलिए मुक्तिबोध का यह कहना एक बड़ा अर्थ रखता है कि 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।'[2] इसके बावजूद, हम मुक्तिबोध साहित्य पर भरोसा रखते हैं, क्योंकि मुक्तिबोध ने 'आवश्यकता से अधिक' भरोसा नहीं रखने की बात कही थी, भरोसा नहीं रखने की बात नहीं कही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि हाल के विकास से आक्रांत कुछ लोगों का साहित्य पर आवश्यकता भर भरोसा भी नहीं रह गया है। दुखद ही है कि इन 'कुछ लोगों' में, अपने-अपने कारणों से, सामान्यत: साहित्य से विमुख हिंदी समाज के पढ़े-लिखे सदस्य या साधारण किस्म के साहित्यकार ही नहीं लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकार भी शामिल हैं।

राजेंद्र यादव कहते हैं, 'इस स्वायत्त और अद्वितीय संसार का दूसरा नाम साहित्य या धर्म है! दोनों ही अतीत की महानता के वर्तमान में जीते हैं और दूसरे ज्ञान क्षेत्रों के मुकाबले ऊँचे और श्रेष्ठ होने की इस कुंठा को चुभलाते रहते हैं कि वे मानव-मेधा की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ हैं। दुनिया में जो कुछ भी अच्छा और महत्त्वपूर्ण हुआ है वह सब किसने किया है: साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने! साहित्य बचा है, इसलिए हम बचे हैं। वह मानव मनीषा का आदि और अंत है। विचार, चिंतन और सृजन के क्षेत्र में जो भी कुछ उल्लेखनीय है, वह सब साहित्य में है – साहित्य की देन है! कैसी भोली आस्था है। साहित्य-विमर्श का एक तिहाई भाग स्वयं इन्हीं आत्मप्रशस्तियों से भरा है।'[3] आस्था हमेशा भोली ही होती है! हमारे लिए चिंता की बात यह नहीं है कि आस्था कितनी भोली है, बल्कि यह है कि अनास्था कितनी क्रूर है। कितनी भयावह है बदलाव की यह आँधी जो हमारे चारों ओर अनास्था को वैध बनानेवाले कारणों का अंबार लगा रही है। यह आस्था ही तो है कि इतना 'कष्ट' सहकर भी

राजेंद्र यादव 'हंस' को जारी रखे हुए हैं। यह अनास्था ही है कि राजेंद्र यादव जैसा समर्थ और जेनुइन रचनाकार समझने लगता है कि वह अपने 'लिखने' का उचित कारण खो चुका है और 'नहीं लिखने' के कारणों की तलाश में अपने लेखकीय दायित्व, जिसके निमित्त जीवन समर्पित किया हो, का निर्वहन करने लगता है। इसका एक दूसरा पहलू भी है, वह यह कि जिस समाज में राजेंद्र यादव जैसा समर्थ और जेनुइन रचनाकार अपने लिखने के कारण को खो चुकने के बोध का शिकार हो जाता है उस समाज में बहुत सारे प्रतिभाशाली जेनुइन पाठकों को लगने लगता है कि उनके पास अपने भाषा-साहित्य को पढ़ने का कोई कारण नहीं बचा है! दुखद ही है कि इस दुश्चक्र पर सोचने की जरूरत से हमने अब तक इनकार ही किया है! यह ठीक है कि आत्मप्रशस्ति बहुत अच्छी बात नहीं है, तो आत्महीनता क्या कोई अच्छी बात है! असल में साहित्य पर आकांक्षाओं का अतिरिक्त बोझ लादने से भी इस अनास्था का गहरा संबंध है। अन्य मानवीय उपक्रमों, खासकर राजनीतिक क्रियाकलापों, का जीवन पर तुरत-फुरत एवं गोचर प्रभाव पड़ता है। साहित्य का असर न तो तुरत-फुरत पड़ता है और न ही गोचर होता है। यह ठीक है कि सारा कुछ साहित्य ने नहीं किया है। सारा कुछ करना तो किसी 'एक' के बूते संभव भी नहीं है! सवाल तो यह है कि साहित्य ने कुछ किया है कि नहीं, यदि कुछ भी किया है तो, यह भी कि वह अपने काम को कैसे आगे भी करते रह सकता है। रघुवीर सहाय ठीक ही कहते हैं कि 'कम से कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते : इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं। इन्हीं के सामने अपने आंतरिक संघर्ष की जाँच के लिए कवि अपनी रचना लाता है चाहे रचने के एकांत के बीच में से उठकर ही क्यों न आना पड़े।'[4]

इसे बड़बोलापन न समझा जाये, सच तो यही है कि समाज के अंतरंग में आने-जाने का न सिर्फ आज्ञापत्र ही साहित्य को हासिल होता है, बल्कि इस अंतर्यात्रा के दुर्गम रास्ते का ज्ञान भी सिर्फ साहित्य के पास ही होता है। इस बात के प्रमाण हैं कि जिस समाज में साहित्य के सामाजिक सरोकार और सामाजिक सम्मान में जितना कारगर और गतिशील आंतरिक संतुलन कायम हुआ वह समाज अपने समय में होनेवाले परिवर्तनों के साथ उतना ही सार्थक संवाद भी कायम कर सका। भक्तिकाल में साहित्य के सामाजिक सरोकार और सामाजिक सम्मान के बीच कारगर और गतिशील आंतरिक संतुलन हिंदी समाज में भी बना था। भक्तिकाल के बाद हिंदी समाज में साहित्य के सामाजिक सरोकार और सामाजिक सम्मान के आंतरिक संतुलन में धीरे-धीरे विचलन पैदा हो गया। यद्यपि, स्वाधीनता आंदोलन की राजनीतिक चेतना के साथ विकसित नये सामजिक गठन को हासिल करने के स्वप्न-विधान

में सामाजिक सरोकार को फिर से अर्जित करने की साहित्यिक आकांक्षा बलवती हुई लेकिन संतुलन में आये विचलन को दूर नहीं किया जा सका। इस विचलन के कारण हिंदी साहित्य के सामाजिक सरोकार ऊपरी तौर पर, अर्थात राजनीतिक तौर पर, तो प्रखरतर होते गये लेकिन आंतरिक तौर पर, अर्थात सांस्कृतिक तौर पर स्थगित ही होते चले गये। संभवत: इसी विपर्यय के चलते साहित्य के सामाजिक सम्मान में गिरावट आनी शुरू हो गई। इस विचलन का अध्ययन किया जाना बहुत ही जरूरी है। सामाजिक-सरोकार से यहाँ आशय उन सरोकारों से है, जो समाज के साहित्यकारों की सामान्य चित्तवृत्ति में विन्यस्त होकर सृजन के स्तर पर सक्रिय रहते हैं और सामाजिक-सम्मान से आशय यहाँ उस सम्मान से है, जो समाज के सदस्यों की सामान्य चित्तवृत्ति में विन्यस्त होकर उनके दुखों के कम होने एवं सहनीय बनने के लिए साहित्य के साहचर्य से जीवन के स्तर पर अनायास ही पारस्परिक आस्था और विश्वास का वातावरण बनाता है। सरोकार और सम्मान का यही जुड़ाव सृजन और जीवन के जुड़ाव का आधार रचता है। जुड़ाव के इस आधार को ध्यान में रखने पर समाज के अंतरंग में स्थगित सवालों को उठाने के प्रयास और साहस में साहित्य की अग्रणी भूमिका का महत्त्व स्वीकार्य बनता है। मानना चाहिए कि जिस सहित्य को समाज के अंतरंग में अबाध प्रवेश का आज्ञापत्र हासिल न हो, या जिस साहित्य को इस दुर्गम अंतर्यात्रा का ज्ञान न हो, अंतत: उसका साहित्य बने रहना असंभव ही साबित होता है।

सवाल उठाया जाना चाहिए कि आधुनिक हिंदी साहित्य का प्रगतिशील तत्त्व हिंदी जनता के मनोभावों और संस्कारों से क्यों जुड़ नहीं पाया या पा रहा है। इस संदर्भ का एक सवाल वर्त्तमान साहित्य के शताब्दी कविता विशेषांक की साक्षात्कार शृँखला में भी उठाया गया है। इस सवाल को बार-बार उठाते हुए अलग-अलग कोणों से उत्तर तलाशने की कोशिश करनी चाहिए। विष से विलगाकर अमृत को पाने के लिए सागर-मंथन की मिथिकीय प्रक्रिया की बात तो अपनी जगह है, अनुभव बताता है कि एक ही बार मथानी घुमाने से मक्खन हासिल नहीं होता है। सांस्कृतिक अनुभव तो यह भी बताता है कि पुरुषार्थ और पराक्रम की पराकाष्ठा के बावजूद पानी को मथते रहने से भी मक्खन हासिल नहीं होता है! एक बात का ध्यान हमें रखना ही होगा कि विषय को उत्थापित करने की दृष्टि से उत्तेजना की अपनी सीमित भूमिका तो होती है, लेकिन उत्तेजना ही अगर विमर्श का नियमन और शासन भी करने लगे, तो विमर्श के विपथन का संकट उत्पन्न हो जाता है। पुनरुक्ति का खतरा मोल लेते हुए भी कहना होगा कि हिंदी साहित्य के सामाजिक संदर्भ पर सोचनेवालों को हिंदी साहित्य की लोक संपृक्ति के अभाव के कारणों की खोज करनी चाहिए। इस खोज में जोखिम हैं। कुछ अप्रिय सवालों से टकराना पड़ सकता है और अहितकर प्रसंगों से जोड़ दिये जाने का भी खतरा है। मृत शिशु को छाती से चिपकाये

रखनेवाली बंदरिया के मनोभाव से ग्रस्त अपनी मनोगत छवि को ही सामाजिक पूँजी मानने और उसी से प्रतिबद्ध विद्वजनों का ऐसे सवालों से कन्नी काटना समझ में आना चाहिए। ऐसे सवालों से सही मायने में वही जूझ सकता है जो हिंदी बौद्धिकता की गंगा में नंगा नहाने की स्थिति में होने के कारण निचोड़ने की समस्या से फिलहाल मुक्त हो। अनुभव सिद्ध और इतिहास प्रसिद्ध बात है कि जोखिम उठाकर नई पहल वही कर सकता है जिसके पास, कम-से-कम एहसास के स्तर पर, खोने को बहुत कम हो और पाने को बहुत ज्यादा हो। भयावह यह है कि एहसास एवं समझ के स्तर पर लब्ध-प्रतिष्ठित हिंदी बौद्धिकों के पास ही नहीं अभी-अभी भूमिष्ठ होकर पालने में पाँव डुलाते चिकने पातवाले हिंदी साहित्य के होनहार-वीरवानों के पास भी निजी स्वप्न, समीकरण और संभावना की दृष्टि से खोने को तो बहुत कुछ है लेकिन पाने को कुछ भी नहीं! जाहिर है, संक्रमण की ऐसी कठिन घड़ी में सबसे सुरक्षित नीति, तेल और तेल की धार देखने की ही होती है। पानी की सतह पर फैल जानेवाली तैलीय उत्तेजना और तेल की धार देखनेवाले धैर्य से यह विमर्श समाज में आगे नहीं बढ़ पायेगा। इन से विमर्श को बचाना होगा।

बांग्ला

साहित्य और समाज का उनकी अपनी सामाजिकता, जातीयता, राष्ट्रीयता और वैश्विकता के साथ संवेदनात्मक संबंध के संतुलन, कहीं-कहीं असंतुलन से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। विचार यहाँ से किया जाना चाहिए कि अगर रवींद्रनाथ ठाकुर या जीवनानंद दास आदि की रचना एक ऐसी भाषा में सामने आती जो भाषा अपने पृथक अस्तित्व के स्तर पर नहीं भी तो परिगठन की रूप-भिन्नता के स्तर पर ही उनके परिवार-गाँव -समाज में बोली जानेवाली भाषा से भिन्न होती तो क्या उसका भी वैसा ही असर होता? या उसका वैसा ही जन-जुड़ाव होता? इसके साथ ही यह भी कि पुनर्जागरण से हासिल सामाजिक-सांस्कृतिक पीठिका और परिणाम की सक्रिय उपस्थिति के बिना उनकी साहित्य-संवेदना की सामाजिक-सांस्कृतिक ग्रहणशीलता का वही भाव होता, जो है? यह भी कि क्या साहित्य के सामाजिक संस्कार बनने में साहित्य की एकल भूमिका होती है? बंगाली जातीयता के निर्माण के सामाजिक स्वप्न से जोड़े बिना न तो बांग्ला साहित्य के निर्माण की प्रक्रिया समझ में आ सकती है और न ही बांग्ला के आधुनिक साहित्य के संस्कार की सामाजिक स्वीकृति और पैठ की ही बात समझ में आ सकती है। इसे रवींद्र संगीत और नजरूल गीति से भी जोड़कर देखना आवश्यक है। ये बांग्ला के जातीय संगीत हैं। हमारा जातीय संगीत? शायद उसके पहले भी यह सवाल कि हमारी जातीयता? जातीयता और सामाजिकता के बाह्य-आंतरिक संबंधों के विभिन्न संस्तरों की जटिलताओं की संवेदना को विवेक-ग्राह्य बनाये बिना इस रहस्य को समझने की

कोशिश खोपरे को खोले बिना नारियल को समझने का कपि प्रयास ही बन कर रह जाता है। बांग्ला सामाजिकता, जातीयता, राष्ट्रीयता और वैश्विकता के अंतर्संबंधों के परिप्रेक्ष्य में इसके संगीत और साहित्य को शांति निकेतन में स्थित विश्वभारती की स्थापना और उसकी जीवंत जातीय उपस्थिति से भी जोड़ कर देखना चाहिए। हिंदी नवजागरण और आधुनिकता के अग्रदूत भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के मन में भी जातीय संगीत के संयोजन और हिंदी विश्वविद्यालय संस्थापन की इच्छा थी। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और बनारस में हिंदू विश्वविद्यालय तो जरूर खुल गये। हिंदी या हिंदुस्तानी जातीयता को गठित नहीं होने देने या उसमें दो फाड़ हो जाने देने में इन विश्वविद्यालयों की भूमिका परीक्षणीय और शिक्षणीय भी है। विभावना के उत्तम उदाहरण महात्मा गाँधी के नाम पर चल रहे अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के गठन के कारण-कार्यार्थ से भी कुछ-न-कुछ तो सीखा ही जा सकता है।

जब हम आधुनिक साहित्य पर बात करते हैं तो निश्चित रूप से हमें आधुनिकता के अपने मिजाज को भी ध्यान में रखना चाहिए। आधुनिकता का जन्म ही प्रश्नाकुलता और किसी भी रूप में जारी अयौक्तिकता को विवेक के बल पर चुनौती देने के क्रम में हुआ। चुनौती देने के लिए शक्ति और शक्ति के लिए शिक्षा, संस्थान और संगठन चाहिए। यद्यपि निरक्षरता और मूर्खता पर्याय नहीं है, तथापि हिंदी पट्टी में निरक्षरता तो एक समस्या है ही, लेकिन उससे बड़ी समस्या है निरक्षराचार, यानी पढ़े लिखे लोगों में भी निरक्षर जैसा आचरण करने की प्रवृत्ति। इस निरक्षराचार से निपटने में विश्वविद्यालयों की भूमिका कैसी रही है? स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले प्रेमचंद की टिप्पणी 'आजादी की लड़ाई ' गौर करने लायक है। प्रेमचंद लिखते हैं, 'इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और युनिवर्सिटियों की कलई खोल दी।'[5] और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1968 में नामवर सिंह लिखते हैं 'सांस्थानिक दृष्टि से हिंदी आलोचना के विकास में विश्वविद्यालयों के स्वतंत्रयोत्तर हिंदी विभागों का कोई योगदान नहीं है...गुरू की चिंतन-परंपरा का विकास उत्तरदायित्वपूर्ण असहमति का साहसी शिष्य ही कर सकता है, सतत सहमति का भीरू सेवक नहीं और स्थिति यह है कि अब के आचार्य सेवक चाहते हैं शिष्य नहीं। इस वातावरण में जहाँ कोई कुमारिल ही नहीं, वहाँ कोई प्रभाकर क्या होगा ?'[6] गुरू-शिष्य दोनों ही भीरू सेवक बनकर रह गये! लेखक संगठनों की हालत कैसी है? एक नजर इधर भी डालते चलें। कवि केदारनाथ अग्रवाल की पहल पर 1973 में बाँदा में लेखकों का एक सम्मेलन बुलाया गया था जिसमें सभी रंग के वामपंथी लेखक बुलाये गये थे। 1974 में नामवर सिंह ने एक लेख लिखा 'प्रगतिशील साहित्य धारा में अंध लोकवादी रुझान', इस लेख की दो टिप्पणियों की ओर विशेष ध्यान

दिया जाना संदर्भानुसार है। पहली, टुटपुँजिया मध्यवर्गीय जलन अक्सर आपसी वैमनस्य को भड़काती रहती है जिसके कारण लेखकों के बीच न कोई संयुक्त मोर्चा बन पाता है और न संगठन ही चल पाता है। दूसरी, जन-लेखकों का निर्माण, निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है। नामवर सिंह का संदर्भ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि ठीक इसके बाद आपातकाल की घोषणा होती है और सेंसरशीप से लेखकों का परिचय होता है। राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत के चलते इससे व्यक्तिगत और सांगठनिक स्तर पर किस प्रकार निपटा जा सका यह भी ध्यातव्य होना चाहिए। क्या इस बात से असहमत हुआ जा सकता है कि आपातकाल की घोषणा और सेंसरशीप ने अन्याय के विरुद्ध अभिव्यक्ति के संघर्ष में आधुनिक हिंदी लेखकों की सामाजिक विश्वसनीयता और जन-अभिमुखता को सदा के लिए दागी बना दिया? जातीय संकट के समय जिस साहसिक लेखकीय संवेदना की जरूरत होती है वह स्वाँग बनकर रह गई! राजनीतिक गलतियों को जनता जितनी जल्दी माफ करती है सांस्कृतिक चूकों को उतनी जल्दी भूल नहीं पाती है।

भाषा

जितनी औपचारिक होती है उतनी ही जन-मन से दूर होती है। प्रसंगवश, संत साहित्य की सामाजिक स्वीकृति और भाषा-वैविध्य और भाषा-वैचित्र्य या भाषिक-अनौपचारिकता के अंतर्स्संबंध को भी थोड़ा ठहरकर यहाँ समझा जा सकता है। जिस हिंदी में आज आज साहित्य रचा जा रहा है उस हिंदी के विकासक्रम की ऐतिहासिकता ने इसे औपचारिक भाषा ही बनाया है। अपनी व्यापक ग्रामीण अस्मिता के अभाव और सांप्रदायिक दुरभिसंधियों में पड़कर हिंदी के हिंदुस्तानीपन के खो जाने के कारण ही अंतत: वह जमीन हिंदी के पैर के नीचे से निकल गई जिसे खड़ीबोली और उर्दू ने साथ मिलकर हासिल की थी। आजादी के बाद राजनीतिक कुचक्र में फँसकर जहाँ हिंदी दो भिन्न शैलियों में बँट गई वहीं हिंदी क्षेत्र की ग्राम-भाषाओं की औपचारिक स्वीकृति चिर-स्थगन में पड़ गई। यह भाषिक विभाजन-स्थगन बहुत नुकसानदेह साबित हुआ, क्योंकि यह अंतत: सामाजिक संवेदना का भी विभाजन-स्थगन बन गया। इस बात को समझना चाहिए। अनौपचारिक होने के लिए हिंदी को अपने इन स्थगित ग्रामीण भाषिक रूपों में बार-बार लौटना पड़ता है। किसी सार्वजनिक मंच पर भाखा-गीतों और कवित्तों का प्रभाव पढ़ा जा सकता है। हिंदी की हालत अपनी सहायक नदियों के जलप्रवाह से वंचित गंगा की तरह हो गई है। ऊपर से सांस्कृतिक प्रदूषण का असर! अब गाँवों में भी शादी-व्याह के अवसरों पर चालू बंबइया फिल्मों की धुन पर गीत गाये जाते हैं! मजदूर, किसानों के खाली समय में भी इन्हीं की धूम मचती है! व्यक्ति-समाज-जातीयता-स्थानिकता-वैश्विकता के अंतर्संबंधों के संतुलन बिंदु पर कायम रहकर ही साहित्य

की संवेदना का प्रसार होता है। जिस सामाजिक-लोकेल में यह संतुलन बिंदु हुआ करता है, हिंदी साहित्य का वह सामाजिक-लोकेल ही खो गया है। इस लोकेल को ढूढ़ना बहुत जरूरी है। कुछ अपवादों की बात छोड़ दें तो, हिंदी-कवि अब संघर्षशील श्रम-सौंदर्य-चेतना की स्वरलिपि पढ़ पाने में असमर्थ होता जा रहा है। पसीने से अधिक मनभावन तो इत्र होता ही है! पता करना चाहिए कि हिंदी का हामिद[7] अपने बचपन में तो ईद के मेले से चिमटा खरीदता है, लेकिन बड़ा होकर विश्व बाजार से वह क्या खरीदना चाहता है? उस बाजार में, जहाँ रेंगने की ही रवायत है, कुछ लोग हाथ में लुकाठी लेकर खड़ा होने का साहस जुटा पायेंगे? क्या हिंदी समाज श्रद्धा से तिकड़म का नाता[8] तोड़ने का प्रयास कर पायेगा? सवाल यह भी है कि इस प्रयास में हिंदी साहित्य के युवा हस्तक्षेप की प्यासी पथरायी आँखें चौराहे के उस नुक्कड़ पर अपनी क्या भूमिका तय करती है? क्या हिंदी समाज में कविता के संस्कार के प्रवेश की चिंता काव्य संकलन की बिक्री की चिंता से बहुत आगे की चिंता भी नहीं होनी चाहिए? क्या हिंदी समाज का अधीर भविष्य इस सवाल के जवाब की प्रतीक्षा बहुत समय तक कर पाने की स्थिति में है?

बदलती हुई दुनिया में समाज का बदलना स्वाभाविक ही है। उनिभू के कारण इधर दुनिया के एक हिस्से में बहुत तेजी से बदलाव प्रक्षिप्त हुए हैं। इस बदलाव से समाज भी उतना ही विक्षिप्त हुआ है। क्या हैं ये प्रक्षिप्त और विक्षिप्त बदलाव? इसे समझने की कितनी कोशिश आत्महीनता के दलदल में फँसे हिंदी समाज और उसके साहित्य में हो रही है? यह जानने के लिए चेतना को लहुलुहान कर देनेवाले कुछ तीखे सवालों की अबूझ जटिलताओं और घायल इतिहास के उलझे स्नायुतंत्र की गुत्थियों से जूझते हुए आलोचनात्मक अंतरसूझ हासिल करना जरूरी है। जैसे, 'हिंदी समाज' अपने-आप में कोई 'समाज' है या यह एक ऐसा अवधारणात्मक पद है जिसमें 'हिंदी समाज' के बनने या होने की सिर्फ बौद्धिक आकांक्षा ही अंतर्भुक्त है? यह भी परखना जरूरी होगा कि हिंदी समाज और साहित्य का देसीयता, सामाजिकता, जातीयता, राष्ट्रीयता और वैश्विकता के साथ कैसा अंतरसंबंध है? कहना न होगा कि हिंदी समाज और साहित्य के अंतरंग में ये स्थगित सवाल रहे हैं। समाज के बाहर से संवेदना से जुड़े इन सवालों को खोलने के उपक्रम सार्थक नहीं हो पाते हैं। बाहर से किये गये ऐसे प्रयास समाज में अंतर्प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं; इनका प्र्रसाधनिक महत्त्व ही बन पाता है। हिंदी समाज की विडंबना यह है कि संवेदना से जुड़े इस तरह के सवालों से जूझने के बदले उसका साहित्य उसे अवहेलित करता हुआ सीधे वैश्विक ही हो गया! शंभुनाथ की यह टिप्पणी गौर किये जाने लायक है कि 'कुछ कवियों को हिंदी में विश्व कविता लिखने का

चस्का लग गया। .... पिछले पचास सालों की अच्छी कही जानेवाली हिंदी कविताओं में से एक बड़ा हिस्सा ऐसा है, जिनका भारतीय दुनिया (और हिंदी समाज) की विशिष्टताओं और विडंबनाओं से कोई संबंध नहीं है।'[9] ऐसा नहीं कि विश्व कविता नहीं लिखी जानी चाहिए, जरूर लिखी जानी चाहिए। 'इसमें संदेह नहीं कि कवि की चिंता-भावना की परिधि कभी भी किसी खास देश-प्रदेश तक सीमित नहीं हो सकती। कवि की संवेदना का एक मुख्य कोण वैश्विक जरूर होता है, पर उसका पहला जुड़ाव स्थानीय संवेदनाओं और आकांक्षाओं से होना चाहिए। यदि कवि अपने समाज को कविता के हाशिए से बाहर रखेगा, समाज भी उसकी कविता को हाशिए से बाहर फेंक देगा। इसलिए हिंदी कवियों के सामने एक मुख्य चुनौती है कि वह विश्व बिरादरी का लोभ छोड़ दे, वह अपने जातीय समाज में लौटे – उसकी दहकती चुप्पियों और मुखरताओं में झाँके!'[10] अशंका उचित है कि 'कविता में जातीय काव्यात्मकता और कवि में जुझारू सामाजिकता की वापसी के बिना 21वीं सदी में कविता शायद ही साँस ले पाए।'[11] विवेचनीय है कि हिंदी कविता छंद के छूटने से आत्म-खंडित हुई या सामाजिक संबंध के टूटने से। सचमुच, हिंदी उनकी भाषा है जिनकी साँसों को आराम नहीं है, तो हिंदी साहित्य को भी उनका ही साहित्य होना चाहिए! और उन्हीं के बीच उसकी सामाजिकता की खोज की जानी चाहिए। यह याद रखने की जरूरत इसलिए भी अधिक है कि पढ़ा-लिखा हिंदीभाषी समूह जितनी तेजी से अपनी सामाजिकता से कटा है उतनी ही तेजी से अंग्रेजियत के मोहपाश में फँसा है। लेकिन मूल मुद्दा यह है कि वैश्वीकरण की तीव्र आँधी के इस युग में जातीयता, निजीकरण के इस हंगामेदार समय में बिलाती जा रही निजता और सामाजिकता तथा झुककर सलाम बजाने के इस युग में जुझारूपन हासिल कैसे किया जाये?

उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) के इस दौर में देसीयता, सामाजिकता, जातीयता, राष्ट्रीयता और वैश्विकता परस्पर सहयोजी और पूरक न होकर एक दूसरे के धुर विरोधी बनते प्रतीत होते हैं। सही स्थिति तो यह है कि देसीयता को साथ लेकर सामाजिकता और इन दोनों से संपुष्ट जातीयता को अवहेलित किये बिना राष्ट्रीयता एवं वैश्विकता के आयामों से व्यक्तित्व और साहित्य का जुड़ाव हो। हिंदी जातियता की संरचना अपने में ही बहुत जटिल और महाजातीयतात्मक है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीयता और वैश्विकता की गठन प्रक्रिया से गुजर रही हिंदी बौद्धिकता प्रारंभ के उत्साह में इस बात का महत्त्व ठीक से समझ नहीं सकी कि हिंदी महाजातीयता की कोशकीय संरचना में जो विभिन्न ऐतिहासिक जीवंत लघु जातीय कोशिकाएँ हैं, उनकी अवहेलना करने से हिंदी

की महाजातीयतात्मकता के भविष्य पर प्रतिकूल असर पड़ेगा, उसकी संवेदना की धार भोथरी होगी। कुछ लोगों ने इसे आकांक्षा नहीं उपलब्धि के रूप में भी देखने की भूल की। नागार्जुन और डॉ. रामविलास शर्मा के भाव-मत पर आज फिर से गंभीरतापूर्वक विचार किये जाने की जरूरत है। इस विचार के बाद हो सकता है कि हिंदी बौद्धिकता को अपनी राह में थोड़ा परिवर्तन करने की चुनौती भी झेलनी पड़े। आगे बढ़े हुए अधिकतर लोग अंधी गली में फँस जाने के बाद भी राह में बदलाव के प्रस्ताव को भटकाव ही मानते हैं। सभ्यता और संस्कृति की विकास-रेखा यह प्रमाणित करती है कि उसके तीन से छः होने को कभी भी शिखर से प्रोत्साहन नहीं मिलता है! यह काम पीछे छूट गये लोगों के बल पर ही संभव होता है। क्या यह कहना होगा कि पीछे छूट गये लोगों की पीड़ा को ही हाशिए का ममोड़ कहते हैं!

नागार्जुन मैथिल थे। मैथिली उनकी मातृभाषा थी। वे मैथिली में भी लिखते थे। वे सिर्फ मैथिली में ही नहीं बांग्ला और संस्कृत में भी लिखते थे। मैथिली का होना उनके लिए हिंदी का होने में बाधक नहीं सहायक और आवश्यक ही था। इसलिए मैथिली के साथ ही वे हिंदी के भी उतने ही थे। विचार किया जाना चाहिए कि यह जानने के बावजूद कि जो कद मिलना हिंदी में संभव है, वह बांग्ला और संस्कृत में तो नहीं ही संभव है, शायद मैथिली में भी संभव नहीं है; नागार्जुन उन भाषाओं में लिखने का जोखिम उठाने से हिचकते नहीं थे तो उसके पीछे क्या सोच सक्रिय हो सकता है? अँगरेजी में कभी हाथ आजमाया नहीं, इस बारे में भी सोचना चाहिए। यह भी, कि आज हम सिर्फ हिंदी में ही लिखने को क्यों काफी मानते हैं! यह देखना चाहिए कि मैथिली में लिखना नागार्जुन के लिए हिंदी महाजातीयता की अपनी जड़ों से जुड़े रहने, बांग्ला में लिखना हिंदी महाजातीयता की निकटवर्ती जातीयता की संवेदना से जुड़ने और संस्कृत में लिखना छुटी हुई जीवंत संवेदना को भी हिंदी महाजातीयता में बनाये रखने की आवश्यकता की समझ से कितना अर्थवान है। नागार्जुन के लिए 'परंपरा में पलीता' लगाने से अधिक जरूरी था 'परसल माए, पाए तुअ पानि'[12] की क्षमायाची सावधानी और श्रद्धा के साथ परंपरा को बरतना। इसीलिए नागार्जुन 'सच्चे अर्थों में स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि जनकवि'[13] हो सके; स्वाधीन भारत के सच्चे प्रतिनिधि जनकवि सिर्फ हिंदी के नहीं! सिर्फ मैथिली के भी नहीं! सभी जानते हैं कि डॉ. रामविलास शर्मा ने भी हिंदी जातीयता के सवालों की गुत्थियों को सुलझाने का आजीवन अथक प्रयास किया। नागार्जुन और डॉ. रामविलास शर्मा, की अतियों से बचते हुए, उनकी बात को एक साथ देखने पर कुछ बातें साफ हो सकती हैं। 'पाटल' के जनवरी 1954 अंक में 'मैथिली और हिंदी' शीर्षक से डॉ. रामविलास शर्मा का एक लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख का मूल आशय यह था कि

मैथिली कोई भाषा नहीं बल्कि एक बोली मात्र है। हिंदी में उसका समाहित हो जाना ही श्रेयस्कर है। डॉ. रामविलास शर्मा से असहमत होकर नागार्जुन ने भी 'मैथिली और हिंदी' शीर्षक से ही एक लेख लिखा। यह लेख दो किस्तों में 'आर्यावर्त्त' के 14 एवं 21 फरवरी 1954 अंक में छपा। 'ब्रिटिश प्रभुओं ने संसार-भर में ढोल पीटा कि अंग्रेजी ही भारत की राष्ट्रभाषा है। अविकसित भाषाओं और पिछड़ी जातियों का अजायब घर है हिंदुस्तान, उसकी समग्र चेतना को प्रकट और एवं परिष्कृत करने योग्य भाषा अंग्रेजी ही हो सकती है। अब आज बिहार की भाषा-समस्या को दिल्ली और पटना के काँग्रेसी महाप्रभु तथाकथित 'हिंदी-प्रदेश' के बुद्धिजीवी क्या उसी दृष्टि से देख नहीं रहे हैं! आप उल्लसित होकर कहते हैं – अब बिहार की राजभाषा हिंदी है। जी नहीं यह आज का तथ्य हो सकता है। कल की हमारी राजभाषा क्या होगी, इसका फैसला मिथिला और भोजपुर के पृथ्वीपुत्र करेंगे; संथाल-मुंडा-ओराँव आदि आदिवासी इस फैसले में हिस्सा लेंगे। बिहार में एक ही वर्ग ऐसा है जिसकी मातृभाषा हिंदुस्तानी या हिंदी है – वह वर्ग है शहर में रहनेवाले मुसलमानों का। कुछ हिंदुओं और ईसाइयों को भी इस वर्ग में शामिल कर लीजिए, फिर भी हिंदी भाषियों की तादाद 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। इनमें से भी अधिकांश ऐसे हैं जो स्कूल-कालेज जाकर हिंदी सीख आए हैं। बाकी लोग अपना काम भोजपुरी, मैथिली आदि भाषाओं बोलियों के माध्यम से करते हैं। समूचे बिहार को हिंदी भाषा-भाषी घोषित करके और उसे विशाल हिंदी-प्रदेश का एक अंग मानकर आचार्य धीरेंद्र वर्मा की भाँति डाक्टर रामविलास शर्मा भी हिंदी साम्राज्य के वकीलों की कतार में आ गये हैं। भाषा-समस्या के समाधान में धरती के बेटे (किसान) क्या रोल अदा करेंगे, आश्चर्य है कि रामविलासजी ने इस ओर अपने लेख में जरा भी ध्यान नहीं दिया है।'[14] आगे वे लिखते हैं, 'किस इलाके की क्या भाषा होगी, इसका फैसला आखिर किस बात पर निर्भर करता है? शासक वर्ग की इच्छा पर? नहीं, बिल्कुल नहीं। शहरों और औद्योगिक इलाकों में जा बसनेवाली जनता की मिश्रित बोलियों पर? नहीं, यहाँ हमें स्तालिन की बात याद रखनी चाहिए। सोवियत भूमि में भाषा-समस्या पर विवाद उठ खड़ा हुआ तो लोगों ने स्तालिन से राय माँगी। इस विषय में बहुत सारे प्रश्नों का समाधान करते हुए उन्होंने एक बात यह कही थी कि वाक् (एक औद्योगिक अंचल) के मजदूरों की भाषा को आधार मानकर जार्जिया प्रदेश की भाषा का कोई हल नहीं निकाला जा सकता है। स्तालिन ने ही इस तथ्य पर जोर दिया था कि राष्ट्रीयता की समस्या और भाषा की समस्या किसान हल करेगा, क्योंकि किसान जमीन से चिपका है और देश से संपृक्त है, वह देश का अधिवासी है। अर्थात भाषा-समसया के समाधान में श्रमिक किसान का अनुगमन करेगा।'[15]

असल में नागार्जुन डॉ. रामविलास शर्मा के एक प्रकार के अतिवादी बिचार से इतना बिफर गये थे कि उनकी प्रतिक्रया में भी एक दूसरे प्रकार की अति की गुंजाइश बन गई। नागार्जुन लघु-जातीयता के प्रश्नों को स्थगित कर हिंदी-महाजातीयता के विकास के पक्षधर नहीं थे। वे हिंदी महाजातीयता के स्वाभाविक आधुनिक विकास के लिए समय चाहते थे। भाषावार राज्यों के गठन के निर्णय और हिंदी की लघुजातीयताओं को अवहेलित करनेवाले हिंदी आग्रह के कारण थोड़ी देर के लिए नागार्जुन अलग मिथिला राज्य तक की बात सोचने लग गये थे। वे न तो डॉ. धीरेंद्र वर्मा और डॉ. सामविलास शर्मा के हिंदी तर्कों से सहमत हो पाये और न ही डॉ. लक्ष्मण झा, डॉ. सुभद्र झा, और म.म. डॉ. श्री उमेश मिश्र आदि के मैथिली तर्कों से ही सहमत हो पाये। नागार्जुन अपने जनपद से कट कर जन कवि नहीं बने थे। उनके विचार साफ थे, 'मेरी राय में मिथिला-प्रदेश की प्रादेशिक भाषा के तौर पर मैथिली भी मान्यता प्राप्त करेगी और हिंदी भी। मध्य प्रदेश में मराठी और हिंदी दोनों भाषाएँ प्रादेशिक भाषाओं के तौर पर मान्य हैं। मद्रास और बंबई प्रदेशों में इसी प्रकार एकाधिक भाषाओं को मान्यता प्राप्त है। मिथिला के किसी भी अधिवासी पर उसकी इच्छा के विरुद्ध हम मैथिली नहीं लादेंगे। डॉ. श्री जयकांत मिश्र के सीमा विस्तार की अबांछनीय मनोवृत्ति का समर्थन हम कर ही नहीं सकते। डॉ. श्री लक्ष्मण झा, डॉ. सुभद्र झा, और म.म. डॉ. श्री उमेश मिश्र का हिंदी विरोधी रुख मिथिला निवासियों के लिए सर्वथा घातक है। चाहे कैसे भी हो, शुद्ध या भ्रष्ट किसी भी तरह की हो, मगर हिंदी मिथिला के अंदर घुस अवश्य आई है। क्या हर्ज है, अगर इस सच्चाई को हम खुले तौर पर स्वीकार कर लें? मैथिली की मौजूदा शब्द-शक्ति से नितांत अपरिचित व्यक्ति का उसे बोली मात्र कह डालना जिस तरह कोरी बकवास है, उसी तरह मिथिला के अंदर फैलती हुई हिंदी के अस्तित्व को बिल्कुल न मानना दिन-दहाड़े मक्खी निगलना हुआ।'[16] जिस तरह से जनपद विमुख वैश्विकता नागार्जुन को स्वीकार्य नहीं थी उसी प्रकार काल की अवहेलना कर शाश्वत बनने का आग्रह भी उनके मन में नहीं था। 'कवि हूँ, सच है, किंतु क्षणिक तथ्यों को अवहेलित करके, शाश्वत का सीमांत कभी क्या छू पाऊँगा ?'[17] आज इस बात पर बार-बार चिंता व्यक्त की जा रही है और सामाजिक दृष्टि से इसे परेशानी में डालनेवाला तथ्य माना जा रहा है कि दुनिया से प्रतिदिन एक भाषा का प्रदीप बुझ जाता है। नागार्जुन को भविष्य का अंदाजा था, 'कहते हैं, भविष्य में समग्र संसार की एक ही भाषा होगी। हमारे इस महादेश की प्रादेशिक भाषाएँ अपना-अपना पृथक-पृथक अस्तित्व खो बैठेंगी और सुविकसित भारतीयों की वह विशाल बिरादरी एक ही भाषा बोलेगी, तब देश-देश और द्वीप-द्वीप की भाषाएँ एक हो जाएँगी और अखिल विश्व अभिव्यक्ति के लिए समान शब्दालियों का सहारा

लेगा। भाषा एक होगी, विचार एक होंगे, मानव समुदाय एक होगा। तो क्या हम अपनी मैथिली, भोजपुरी, संथाली आदि भाषाओं और बोलियों को तिलांजलि दे दें, आज ही? और ऐसा करना क्या हमारे अपने वश की बात है ?'[18] जनपदीय जातीय सामाजिकता से विमुख वैश्विकता और काल विमुख शाश्वतता के व्यामोह में फँसने के कारण हिंदी साहित्य अपने समाज से कितना विच्छिन्न हुआ है यह आज गंभीरता से सोचने की जरूरत है।

हिंदी जातीयता और सामाजिकता के गठन में एक बड़ा अवरोधक ब्राह्मणवाद है। इसने एकता के लिए अनिवार्य समता का भाव-बोध कभी बनने ही नहीं दिया समाज में। पूँजीवाद भी समता विरोधी है। हालाँकि ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद के समता विरोधी होने का संदर्भ काफी भिन्न है, लेकिन धार्मिक आधार पर सामाजिक पदानुक्रमता और आर्थिक आधार पर सामाजिक विषमता बनाए रखने जैसी मूल बात पर इनमें सहमति भी है। इसी सहमति के कारण आजादी के बाद से ही ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद का नवसंश्रय बनने लगा था जो आज के दौर में और मजबूत होकर प्रकट हो रहा है। इसीलिए, डॉ. आंबेडकर ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद को शत्रु मानते थे। एक को जाति-संघर्ष के रास्ते और दूसरे को वर्ग-संघर्ष के रास्ते परास्त करने की रणनीति को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके विचार से 'इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद ...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह (निषेध वृत्ति) ब्राह्मणों तक ही सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है (टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 1938 की रिपोर्ट)[19]। यहीं पर विशिष्ट भारतीय सामाजिक यथार्थ में मार्क्सवाद का विनियोग होना था जिधर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सका। स्वभावत:, इस संघर्ष के लिए डॉ. आंबेडकर फ्रांसिसी क्रांति, मार्क्सवाद और बौद्धदर्शन के बीच से रास्ता निकालने के लिए सचेष्ट दिखते हैं। वे अपने लेखनाधीन निबंध 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'समाज की नई आधारशिला फ्रांसिसी क्रांति के तीन शब्दों, भाईचारा, स्वतंत्रता और समता में समाहित है। फ्रांसिसी क्रांति का स्वागत इसी संकल्प के कारण हुआ। यह समता लाने में विफल रही। हमने रूसी क्रांति का स्वागत किया क्योंकि यह समता लाने का लक्ष्य रखती थी। लेकिन समता लाने के नाम पर समाज भाईचारा और स्वतंत्रता को कुर्बान नहीं कर सकता है। बिना भाईचारा और स्वतंत्रता के समता का कोई मोल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीनों को एक साथ सिर्फ बुद्ध के अनुसरण से ही हासिल किया जा सकता है। साम्यवाद एक दे सकता है, सब नहीं।'[20] यह निष्कर्ष दर्दनाक तो है, लेकिन इसके पीछे खड़े विशुद्ध भारतीय यथार्थ की अनदेखी भी नहीं की जा सकती है। विडंबना यह कि आजादी के बाद से

निरंतर 'जल, जमीन और आजीविका' से बेदखल होती चली गई बहुत बड़ी आबादी के लिए संवैधानिक स्वतंत्रता की गारंटी के बावजूद समता के अभाव में न भाईचारा (इसमें बहनापा शामिल है) के दर्शन हुए न स्वतंत्रता ही अर्थवान बन पाई। इसके उलट दिन-ब-दिन उनिभू की वह प्रक्रिया शुरू हो गई जिसमें समता, स्वतंत्रता और भाईचारा का जिस इतिहास में उल्लेख है, उस इतिहास को ही मृत घोषित कर माया के बट्टा खाता में डाल दिया गया है। यह सब हो रहा है जनतांत्रिक राज्य-शक्ति के नेतृत्व में। दुनिया भर में जनतांत्रिक सरकारें एक तरफ हैं और जनता दूसरी तरफ। यद्यपि आर्थिक रूप से विकसित राज्यों में अपने यहाँ आंतरिक जनतंत्र को बचाये रखने में कुछ हद तक दिलचस्पी बची हुई है, लेकिन दुनिया के आर्थिक रूप से पिछड़े देशों की जनता के जनतांत्रिक अधिकार के हनन के लिए न सिर्फ प्रेरित करती है, बल्कि बाध्य भी करती है। 'लोगों को प्रभावित करनेवाले मामले अब सिर्फ राष्ट्र की सीमाओं में सीमित नहीं हैं। एकीकृत दुनिया में लोकतांत्रिक सिद्धांतों का वैश्विक आयाम है, क्योंकि विश्व नेता और शासक राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही उनके जीवन को प्रभावित करते हैं।'[21] वर्ष 2001 में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अपने काम के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त करनेवाले जोसेफ स्टिग्लिज, विश्व बैंक के मुख्य अर्थशास्त्री तथा अमरिकी राष्ट्रपति विल क्लिंटन के आर्थिक सलाहकार परिषद के अध्यक्ष रह चुके हैं। अकारण नहीं है कि उन्होंने भूमंडलीकरण से ऊपजे असंतोष पर एक महत्त्वपूर्ण किताब लिखी है। वे बहुत भारी मन से स्वीकार करते हैं कि उन्होंने यह किताब[22] इसलिए लिखी कि विश्व बैंक में काम करते हुए उन्होंने साक्षात देखा कि भूमंडलीकरण कर नतीजा विकासशील देशों और खासकर उन देशों के गरीब लोगों के लिए कितना मारक हो सकता है। दो विश्वयुद्धों के बीच आजादी के लिए किये गये भारतीय संघर्ष, जिसके दौरान बाह्य और आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की आकांक्षा से आधुनिक राजनीतिक राष्ट्र के रूप में भारत का संघटन हुआ और 1975 में राजनीतिक आपातकाल लागू किये जाने के बाद यह उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण का यह तीसरा सबसे महत्त्वपूर्ण दौर हमारे सामने है। कहना न होगा, इन तीनों ही दौर का मर्म इस देश में जनतंत्र के गठन और क्षरण से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। संगठित और केंद्रीयकृत राज्य-शक्ति के जनतंत्रीय ढाँचे में ही जनतंत्र की अंतवर्स्तु बड़ी तेजी से विघटित होती जा रही है। जनतंत्र के अनुदार होते जाने के संदर्भ में फरीद जकारिया कहते हैं, 'भारतीय जनतंत्र के भीतर झाँकने पर जटिल और परेशान करनेवाले यथार्थ से सामना होता है। हाल के दशकों में भारत अपने प्रशंसकों के मन में बनी छवि से बहुत कुछ बदल गया है। यह नहीं कि यह कम जनतांत्रिक हुआ है, बल्कि एक तरह से यह अधिक ही जनतांत्रिक हुआ है। लेकिन इस में सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, कानून के पालन और उदारता की कमी हुई है। और ये दोनों प्रवृत्तियाँ – जानतांत्रिकता और अनुदारता – प्रत्यक्षत: संबंधित हैं।'[23] संगठित

शक्तियों का गिरोही चरित्र इतनी तेजी से उभरा है कि सही और समझदार लोगों की देशज संवेदना हतप्रभ है। दूधनाथ सिंह का डर, इस सभ्यता का डर है। वे कहते हैं, 'हमें डर इस बात का नहीं है कि लोग कितने बिखर जाएँगे, डर यह है कि लोग नितांत गलत कामों के लिए कितने बर्बर ढंग से संगठित हो जाएँगे। हमारे राजनीतिक जीवन की एक बहुत-बहुत भीतरी परिधि है, जहाँ 'सर्वानुमति का अवसरवाद' फल-फूल रहा है। वहाँ एक आधुनिक बर्बरता की चक्करदार आहट है।'[24] 'बर्बरता' मध्यकालीन प्रवृत्ति है, आधुनिकता ने इस 'बर्बरता' से संघर्ष किया है। दुखद यह है कि आधुनिकता की परियोजनाओं को परास्त कर मघ्यकालीन 'बर्बरता' ने उसके अंदर अपना घर बना लिया है। आधुनिकता के ढाँचे में मध्यकालीन 'बर्बरता' दोगुनी ताकत के साथ लौटी है। सशक्त होकर 'बर्बर' दमन के रास्ते पर चल निकली है। गाँधी जी तो यही मानते थे कि 'अस्पृश्यता जैसे ही खत्म होगी, स्वयं जाति प्रथा भी शुद्ध हो जायेगी, अर्थात मेरे स्वप्नों के अनुसार शुद्ध हो जायेगी। यह सच्ची वर्णाश्रम व्यवस्था बन जायेगी, जिसके अंतर्गत समाज चार भागों में विभाजित होगा और प्रत्येक भाग एक दूसरे का पूरक होगा, कोई छोटा या बड़ा नहीं होगा। हिंदू धर्म के समग्र अंग के लिए प्रत्येक भाग समान रूप से आवश्यक होगा या एक भाग उतना ही आवश्यक होगा जितना दूसरा।'[25] गाँधीजी इसे शुद्ध सामाजिक कुरीति के रूप में देखते थे और उसी में सुधार को इसका हल मानते थे; इसके आर्थिक संदर्भ को गाँधी कभी समझ ही नहीं पाये। डॉ. आंबेडकर इसके आर्थिक संदर्भ को भी कुछ हद तक समझते तो थे, लेकिन समता, भाईचारा (बहनापा शामिल) और स्वतंत्रता को एक दूसरे की सहबद्धता के सातत्य एवं अन्योनाश्रय में देखने के बदले अलग-अलग और स्वायत्त अवधारणाओं के रूप में देखने के कारण इसके सही निदान को ठीक से चिह्नित नहीं कर पाये। समाज विकास में पीछे छूट गये शोषित और प्रताड़ित लोगों को साथ लेने और समतामूलक समाज के गठन के लिए बहुत संघर्ष के बाद जिस आरक्षण का संवैधानिक प्रावधान किया गया उसे नकारा बताकर विरोध करनेवाले, जरूरतमंद तक आरक्षण के लाभ नहीं पहुँच पाने का डंका पीटनेवाले और रोजगार को मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकार करनेवाले अब अपने लिए आरक्षण की माँग कर रहे हैं! स्वतंत्रता, समता और भाईचारा मनुष्य की मूल सामाजिक अन्योनाश्रित प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों की दमन-प्रक्रिया के नये आयाम के परिप्रेक्ष्य में नामवर सिंह की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है, 'मानवीय प्रवृत्तियों का दमन सामंती दमन का ही एक अंग है। अमानवीकरण की यह प्रक्रिया शासक वर्गों के दमन का प्रमुख अस्त्र रही है। सामंती युग के इस दमन-कार्य के लिए शासक वर्ग धर्म का सहारा लेता था और आधुनिक पूँजीवादी युग में धर्म के अतिरिक्त वैज्ञानिक-तार्किक-व्यावहारिक नीति का भी।'[26] ऐसे कठिन समय में,

केंद्रीयकृत और संगठित जनतांत्रिक राज्य-सत्ता के विकल्प के रूप में विकेंद्रीयकृत और सुगुंफित जनतांत्रिक समाज-सत्ता अधिक आशाजनक लगती है, तो उसके कारणों को समझना बहुत मुश्किल नहीं होना चाहिए। खासकर तब, जब आत्म-विभक्त दुनिया में जनतंत्र की दुरवस्था पर केंद्रित मानव विकास रिपोर्ट 2002, आँकड़ों ओर तथ्यों के आधा पर, अभूतपूर्व आजादी और अन्याय के दौर से गुजर रही दुनिया में नागरिक जीवन के लिए अनिवार्य प्रतिरोधी शक्ति के रूप में जन को शक्ति प्रदान करनेवाले जनतंत्र के गठन को अनिवार्य उपाय के रूप में प्रस्तावित करती है। जाहिर है, जन को शक्ति प्रदान करनेवाला जनतंत्र राज्य में केंद्रित एक स्तरीय शिखर जनतंत्र न होकर समाज में विकेंद्रित बहुस्तरीय धरातलीय जनतंत्र ही हो सकता है – इसीका एक रूप पंचायती राज है। समाज को समझ पाने में हम जितने कामयाब होंगे, विकेंद्रीयकृत और सुगुंफित जनतांत्रिक समाज-सत्ता में अंतर्निहित आशा को भी उतनी ही कामयाबी से समझ पायेंगे।

आगे बढ़ने के पहले, यह देख लेना अप्रासंगिक न होगा कि हिंदी साहित्य में ये सवाल केंद्रीयता क्यों नहीं प्राप्त कर सके या दिन-से-दिन पीछे क्यों होते चले चले जा रहे हैं। कारण बहुत सारे हो सकते हैं, सूक्ष्म भी ओर स्थूल भी। ध्यान देने की बात यह है कि एक भाषा के रूप में हिंदी का महत्त्व अंग्रेजी साम्राज्यवाद की बाहरी औपनिवेशिक दासता और भारतीय वर्णवादी आंतरिक औपनिवेशिक दासता, दोनों से एक साथ मुक्ति की आकांक्षा में तीव्रता के साथ ही बढ़ा। यों तों, बाहरी औपनिवेशिक दासता और वर्णवादी आंतरिक औपनिवेशिक दासता के विधायकों और नियामकों में टकराव के भी उदाहरण कम नहीं हैं, लेकिन इनके अंर्तनिहित लक्ष्य की एकता के कारण इनका नैसर्गिक संबंध, अपने स्वार्थों को यथासंभव साधते हुए, परस्पर प्रतिपूरकता का ही रहा है। इच्छित परिणाम को अधिकतम परिमाण में सतत पाते रहने के लिए वर्चस्व कायम करने की पुंजीभूत क्षमता ही सत्ता है। इस पुंजीभूत क्षमता की तार्किकता और वैधता का विश्वसनीय और बौद्धिक आधार शास्त्र बनाता है। इस खास संदर्भ में सत्ता और शास्त्र एक दूसरे के पर्याय भी होते हैं और पूरक भी। यह बात धर्मशास्त्र पर ही नहीं साहित्यशास्त्र पर भी लागू होती है। कालिदास उन कुछ कालजयी रचनाकारों में हैं जिनके साहित्य के प्रति पूरी दुनिया में उत्सुकता रही है। कालिदास और संस्कृत के कवियों के बारे में प्रोफेसर तुलसीराम ध्यान दिलाते हैं, 'कालिदास एक बौद्ध विरोधी साहित्यकार थे। इसलिए पुष्पमित्र की तारीफ में कालिदस के रघुवंश और संस्कृति (संस्कृत) के उस जमाने के तमाम साहित्यकारों के साहित्य में यह चीज भरी पड़ी है। कालिदास से लेकर भवभूति, भास, क्षेमेंद्र, भारवि आदि तमाम संस्कृति (संस्कृत) के कवियों

ने मिथकों के आधार पर नाटक लिखना शुरू किया। खासकर महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर नाटकों में वैदिक दर्शन की महिमा का मंडन किया गया। इस तरह बिना बौद्ध दर्शन का नाम लिए उसका विरोध किया गया। जिस कालिदास की इतनी तारीफ की जाती है उसने अश्वमेध के बहाने एक हिंसक दर्शन को बढ़ावा दिया।'[27]

भारतीय

वर्णवादी आंतरिक औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की तीव्र छटपटाहट, हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मुख्य स्वर बन रही थी। जैसा कि नामवर सिंह कहते हैं, 'मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।'[28] शास्त्र और लोक के बीच का यह द्वंद्व सत्ता और जनता के बीच के द्वंद्व के रूप में भी पठनीय है। इस द्वंद्व की अंतर्निहित बुनावट में सत्ता के हाथ में धार्मिक-व्यवस्थाएँ, साहित्य तथा तमाम भौतिक शक्तियाँ थीं, जबकि जनता के हाथ में थी सिर्फ आध्यात्मिक चेतना की करुण सामाजिक पुकार! ज्यों-ज्यों शास्त्र जीतता गया भक्तिकालीन साहित्य रीतिबद्ध होता गया। जो रीतिबद्ध नहीं हुआ, वह रीतिमुक्त कहलाया, लेकिन अंतत: केंद्र में तो 'रीति' ही रही। भक्तिकाल के कवियों में न तो कवि कहलाने की लालसा थी न वचनप्रवीण बनने की उत्कंठा, लेकिन रीति की पहली ही आकांक्षा थी के सुकवि रीझ जायें। न रीझें, तो राधा-किसन का सुमिरन समझकर संतोष कर लेंगे! अंग्रेजी साम्राज्यवाद की बाहरी औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की छटपटाहट की पूर्व प्रेरणा बनकर भक्तिकालीन चेतना में एक बार फिर उठान की झलक मिलती है। इस उठान को नवजागरण के संदर्भ में प्रामाणिकता से पढ़ा जा सकता है। ध्यान में लाना जरूरी है कि भक्तिकाल में संस्कृत के अस्वीकार से एक केंद्रीय भाषा का स्थान रिक्त होता गया था। यद्यपि एक केंद्रीय भाषा की आकांक्षा बनी हुई थी। केंद्रीय भाषा की आकांक्षा के सातत्य में देखें तो, मैथिली में कोमलकांत पदावली लिखनेवाले विद्यापति के जिन गीतों का सहज प्रसार बंगाल, असम, उड़ीसा और नेपाल तक हुआ था उन गीतों के अंतिम पद का घोषित रूप से मैथिल ललना की जगह 'ब्रज नारी'[29] को संबोधित होना बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। भाषा की अनेकता का अंतर्वस्तु की एकता से सामंजस्य ही तो भारतीय विविधता में भी भारतीय एकता का जादुई बिंदु है। केंद्रीय भाषा के रूप में हिंदुस्तानी का महत्त्व बहुत तेजी से बढ़ा। यह हिंदुस्तानी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में आंतरिक संबोधन का सबसे व्यापक भाषिक माध्यम बनी। 'किंतु, साम्राज्यवादी ताकतों और धर्म के नाम पर बढ़ते दुराग्रहों से उत्पन्न सांप्रदायिक शिक्तयों ने नवनिर्माण की प्रक्रिया से गुजर रही इस भाषा में दो फाड़ कर दिया। अपनी ग्रामीण एवं जाति-समाज से पूर्ण संयुक्तता के अभाव में हिंदुस्तानी इन दुरभिसंधियों

का मुकाबला सफलतापूर्वक नहीं कर पायी।'[30] भाषा में इस दो फाड़ के कारण अंग्रेजी साम्रज्यवाद की बाहरी औपनिवेशिक दासता और भारतीय वर्णवादी आंतरिक औपनिवेशिक दासता के गठजोड़ को लाभ हुआ। यह गठजोड़ सशक्त हुआ।

भूमि सुधार की माँग अंततः सर्वोदय और भू-दान में अंतर्निहित छल का शिकार हो गई। नतीजा यह कि भूमि सुधार हुआ नहीं। जो हो, हिंदी क्षेत्र की आर्थिक गतिविधि का मुख्य आधार कृषि है। मुख्यतः कृषि पर आधारित होने और लगातार बाढ़-सूखा एवं बढ़ती आबादी की मार, निरक्षरता, निरक्षराचार एवं भ्रष्टाचार से संत्रस्त होने के कारण इस क्षेत्र की आर्थिक गतिविधि को गहरा आघात लगता रहा है। विकास की राह पर चलने और आर्थिक विकास की नई मंजिलों को प्राप्त करने में यह क्षेत्र बुरी तरह विफल रहा है। राजनीतिक नेतृत्व की गुणवत्ता लगभग शर्मनाक स्तर पर है। सामाजिक और सांस्कृतिक नेतृत्व ब्राह्मणवादी सांप्रदायिकता और पूँजीवादी सामंतीय शोषण के भँवर फँसकर समाज में होनेवाले सामूहिक हत्याकांडों का मूक गवाह बनता रहता है। साहित्यिक चेतना का मुख्य स्वर इतना अधिक वैश्विक हो गया है कि उन्हें अपने जगत की गति व्यापती ही नहीं है! इस क्षेत्र को गोबर पट्टी, बिमारु, जैसे संबोधन से पुकारा जाता है। यहाँ के लोग रोजगार की तलाश में हिंदी अखबार के फटे हुए पन्ने की तरह पूरे देश में उड़ते फिरते हैं। कहते हैं कि इन्हीं लोगों की कमाई से हिंदी क्षेत्र में 'मनीआर्डर आर्थिकी' का कारोबार चलता है! आज के रोजगारहीन वृद्धि और विकास के इस दौर में मानव विकास की नवोन्मेषी परियोजनाएँ कल्पनातीत बनकर रह गई हैं। स्त्रियों की सामाजिक दुर्दशा के कहने ही क्या! 'जितना बड़ा होता है घर, उतना ही छोटा होता है स्त्री का कोना'[31]। बाल मजदूरी तो हिंदी समाज का कैंसर ही बन गया है। और स्वास्थ्य सुविधा दिन-ब-दिन दुर्लभ होती जा रही है। ऐसे में मानव विकास नहीं हो सकता है क्योंकि, 'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है – आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है। ... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[32] तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार की गारंटी नहीं होती है। रोजगार के अभाव से आधिकारिकता या क्रय शक्ति का भी अभाव हो जाता है। आधिकारिकता या क्रय शक्ति का अभाव ही अकाल है। ध्यान से देखिये तो पूरा हिंदी क्षेत्र आसन्न अकाल से घिरा है। प्रोफेसर अमर्त्य सेन कहते हैं, 'आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने

के लिए अकालों की सृष्टि की प्रक्रिया को ठीक से समझना जरूरी है। यह केवल अनाजों की उपलब्धता और जनसंख्या के बीच किसी मशीनी संतुलन का मामला नहीं है। भूख के विश्लेषण में सबसे अधिक महत्त्व व्यक्ति या उसके परिवार की आवश्यक मात्रा में खाद्य भंडारों पर स्वत्वाधिकार स्थापना की स्वतंत्रता का है। यह दो प्रकार से संभव है : या तो किसानों की तरह स्वयं अनाज का उत्पादन करके या फिर बाजार से खरीदी द्वारा। आसपास प्रचुर मात्रा में अनाज उपलब्ध रहते हुए भी यदि किसी व्यक्ति की आय के स्रोत सूख जाएँ तो उसे भूखा रहना पड़ सकता है। ... । कुपोषण, भुखमरी और अकाल सारे अर्थतंत्र और समाज की कार्यपद्धति से भी प्रभावित होते हैं (केवल खाद्यान्न-उत्पादन और कृषि कार्यों का ही इन पर प्रभाव नहीं पड़ता)। आर्थिक-सामाजिक अंतर्निभरताओं के आज के विश्व में भुखमरी पर पड़ रहे प्रभावों को ठीक से समझना अत्यावश्यक हो गया है। खाद्य का वितरण किसी धर्मार्थ (मुफ्त में) अथवा प्रत्यक्ष स्वचालित विधि से नहीं होता। खाद्य सामग्री प्राप्त करने की क्षमता का उपार्जन करना पड़ता है। ... खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा / बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धिता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।'[33] जाहिर है, अकाल को अनाज के साथ ही जीवन उपयोगी अन्य सामग्रियों के उत्पादन और उन सामग्रियों की उपलब्धता से भी जोड़कर देखना चाहिए।

पूरे भारत के पिछड़ेपन का दोषी इन हिंदी प्रदेशों को ही बताया जा रहा है। बिहार सिंड्रॉम का मूल आशय अपनी अर्थवाचकता में फैल कर दरअसल हिंदी सिंड्रॉम को ही ध्वनित करता है। कुछ दिन पहले मुंबई में रेलवे में भर्ती की परीक्षा में शामिल होने गये उम्मीदवारों को वहाँ से मराठी भूमिपुत्रों ने खदेड़ दिया! दस राज्यों के राजनीतिक सीमांकनों, ब्राह्मणवाद द्वारा निर्धारित जात-पात, सामंतवादी पूँजीवाद द्वारा निर्धारित अमीरी और परम-गरीबी में बँटे हिंदी क्षेत्र की अपनी आंतरिक समस्याएँ तो हैं ही। कहना न होगा कि आज दुनिया की, और भारत की भी बहुत बड़ी आबादी, उसमें भी हिंदी जाति और समाज, बाह्य-प्रेरित समाज का ही उदाहरण बनकर रह गया है। ऐसा समाज जो मूल रूप से अपने अंतर्विवेक की प्रेरणा से नहीं किसी और के बाह्य प्रलोभन से संचालित होता है। यह निश्चित ही निराशाजनक है, मगर आशा की किरणें भी इसी निराशा के गर्भ से फूटेंगी। हिंदी समाज को अपने गठन को नये सिरे से समझते हुए विवेक प्रदत्त निष्कर्षों एवं अंत:करण की प्ेररणा से चलने की तैयारी करनी चाहिए। इस तैयारी में हिंदी समाज के अंत:करण में उठ रहे हाहाकार को उल्लास में बदलने में ही हिंदी साहित्य की आज की सामाजिकता का बचा हुआ दायित्व है। सवाल यह है कि हिंदी समाज के नवोन्मेष के संदर्भ में हिंदी साहित्य अपने पिछले अनुभवों के आधार पर अपने को कितनी तत्परता से और कितना अधिक तैयार कर

पाता है। जाहिर है इसके लिए सिर्फ तीव्र कलात्मक प्रेरणा ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए व्यापक अर्थ में तीव्र राजनीतिक प्रेरणा भी उतनी ही प्रयोजनीय है।

उ**दारी**करण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दौर में प्रत्येक स्थानिकता, सामाजिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता अपनी खोज फिर से करने के लिए तत्पर है। एक बार फिर दुहरा लें, 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।'[34] जाहिर है, निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की खोज नये सिरे से अपेक्षित है। जिन कारणों से भारतीयता की खोज अपेक्षित है, ठीक उन्हीं कारणों से हिंदीयता की खोज भी जरूरी है। इसलिए, हमें भी, अर्थात साहित्य से जुड़े लोगों को जिनके पास समाज के अंतर्मन में प्रवेश का आज्ञापत्र और कौशल है, इस खोज में शामिल होने की तैयारी हर प्रकार से करनी चाहिए। इस खोज में भारतीय राष्ट्रीयता के साथ ही हिंदी की स्थानिकता, सामाजिकता, जातीयता के पुनर्न्वेषण की चुनौती को भी शामिल किया जाना जरूरी है। संतोष की बात है कि इस चुनौती के प्रति हिंदी साहित्य थोड़ा सचेत हुआ प्रतीत हो रहा है, हाल में आये कुछ उपन्यास इसके प्रमाण हैं। कविता और कहानी को भी इसमें शामिल होना है। प्रथम चरण में ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद से निर्णायक संघर्ष किये बिना पुनर्न्वेषण का काम शुरू भी नहीं हो सकता है। यह सामाजिक संघर्ष भी है और आत्मसंघर्ष भी। इसमें पीड़ा, तो होगी। आँसू, तो निकलेंगे। पीड़ा और आँसू के बीच से घर ही नहीं घर-घर तक पहुँचानेवाला रास्ता भी निकलेगा। आत्म-विश्वास होना चाहिए कि 'अबकी अगर लौटा तो, हताहत नहीं, सबके हिताहित को सोचता, पूर्णतर लौटूँगा'[35] और दृढ़ संकल्प कि 'दुनिया में अच्छे लोगों की कमी नहीं है,... लौटकर मैं घर नहीं, घर-घर पहुँचना चाहता हूँ...।'[36] और अंत में 'एक पुरानी कहानी', 'जैसा भी वक्त हो, इसी में खोजनी है अपनी हँसी, जब बादल नहीं होंगे,

खूब तारे होंगे आसमान में, उन्हें देखते हम याद करेंगे, अपना रास्ता।'[37] अपना रास्ता, माने हिंदी समाज और साहित्य के नवोन्मेष का रास्ता!

==

[1]प्रफुल्ल कोलख्यान : साहित्य, समाज और जनतंत्र : व्यक्ति, समाज और साहित्य

[2]मुक्तिबोध रचनावली -4 : एक मित्र की पत्नी का प्रश्न चिह्न

[3]राजेंद्र यादव : मेरी-तेरी उसकी बात : हंस, जून : 2003

[4]रघुवीर सहाय : लोग भूल गये हैं : निवेदन (14 जनवरी 1982)

[5]प्रेमचंद : आजादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं , अप्रैल 1930: प्रेमचंद विविध प्रसंग 2- संकलन और रूपांतर अमृत राय

[6]डॉ. नामवर सिंह : वाद, विवाद संवाद

[7]प्रेमचंद : ईदगाह

[8]नागार्जुन रचनावली -1: चौराहे के उस नुक्कड़ पर: प्यासी पथराई आँखें : 1960

[9]डॉ. शंभुनाथ : वर्त्तमान साहित्य : शताब्दी कविता अंक

[10]डॉ शंभुनाथ : दुस्समय में साहित्य : नूह की नौका में कविता

[11]डॉ शंभुनाथ : वर्त्तमान साहित्य शताब्दी कविता अंक : कविता का पुनर्निर्माण

[12]विद्यापति :गंगा वर्णन

[13]डॉ. नामवर सिंह : 'नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ ' की भूमिका

[14]नागार्जुन रचनावली - 6 : मैथिली और हिंदी : आर्यावर्त्त, 14 एवं 21 फरवरी 1954

[15]नागार्जुन रचनावली - 6 : मैथिली और हिंदी : आर्यावर्त्त, 14 एवं 21 फरवरी 1954

[16]नागार्जुन रचनावली - 6 : मैथिली और हिंदी : आर्यावर्त्त, 14 एवं 21 फरवरी 1954

[17]नागार्जुन रचनावली -1: मनुष्य हूँ :अगस्त 1946 युगधारा / पारिजात, मार्च 1948

[18]नागार्जुन रचनावली - 6 : मैथिली और हिंदी : आर्यावर्त्त, 14 एवं 21 फरवरी 1954

[19]Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage 2002)

[20] - वही -

[21]Human Development Report 2002

[22]Globlization and its Discontents : Joseph Stiglitz

[23]THE FUTURE OF FREEDOM : ILLIBERAL DEMOCRACY AT HOME AND ABROAD- By Fareed Zakaria
(INDIA TODAY : 5 MAY 2003)
[24]दूधनाथ सिंह : आख़िरी कलाम : मेरी तरफ से
[25]एम.के. गाँधी : वर्णाश्रम धर्म, नवजीवन ट्रस्ट, 1926
[26]डॉ नामवर सिंह : प्रेमा पुमर्थो महान
[27]अंधविश्वास धर्म का मुख्य तत्त्व है : प्रोफेसर तुलसी राम से रामाज्ञा राय शशिधर की बातचीत : समयांतर, मार्च 2003
[28]डॉ नामवर सिंह : भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोकधर्म
[29]'भनहिं विद्यापति, सुनु ब्रज नारी' की स्थाई टेक
[30]प्रफुल्ल कोलख्यान : साहित्य, समाज और जनतंत्र : पाठक और साहित्य
[31]मदन कश्यप : नीम रोशनी में : लड़की का घर
[32]मानव विकास रिपोर्ट : 1996 (HDR-1996 : Growth as ameans to human development)
[33]प्रो. अमर्त्य सेन : आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य - अकाल ओर अन्य आपदाएँ (अनु. भवानी शंकर बागला) राज प्रकाशन 2001
[34]प्रो. श्यामाचरण दुबे : समय और संस्कृति : भारतीयता की तलाश
[35]कुँवर नारायण : कोई दूसरा नहीं : अबकी अगर लौटा तो
[36]विनोद कुमार शुकल : अतिरिक्त नहीं
[37]मंगलेश डबराल : घर का रास्ता

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान